वेदधर्मः ब्रह्माण्ड धर्म; मानवधर्म

अनन्त शर्मा

यज्ञ इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सर्जन में सञ्चालन में एवं विलय में प्रमुख है। इस यज्ञ की निष्पत्ति ज्ञान विज्ञान के अनन्त और अजस्र भण्डार वेद सेस होती है। यह वेद उस महासत्ता का ही रुप है जिसे अक्षर, अव्यय, ईश्वर, ब्रह्म, आत्मा औश्र परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है। संक्षेप में इन तीनों यज्ञ, वेद और महासत्ता का परिचय देने का यत्न है जो धर्म भी है और मानव भी।

यज्ञार्थ वेद की उत्पत्ति और विभक्ति

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानिजज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। ऋग्वेद 10.90.9

नारायण इस मन्त्र के सूक्त के ऋषि हैं तथा पुरुष इसका देवता है। उस सर्वहुत यज्ञ के कारण से ऋचाएँ और साम पैदा हुए, अथर्व यन्त्र तथा यजु भी उसी के निमित्त बनें। इस मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञों के यथावत् सम्पादन करने वाले मन्त्रों के कोश का नाम वेद है। आवश्यकतानुसार इस कोश में से मन्त्रों को लेकर यज्ञ की पूर्ति कर ली जाती थी। कोश वैसा ही बना रहता था, यही 'एकवचन वेद शब्द' का अर्थ है।

वेद स्पष्टतः यह कथन करता हैः

यस्मात् कोशादुदभरायवेदं यस्मिन्नन्तरवदध्य एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणोवीर्येण तेन मा देवास्तपसावलेह।। अथर्व. 19/72/1

जिस कोश से हम वेद को निकालते हैं, निकाला है, उसी में इसे सावधानी से पुनः रख देते हैं। इस प्रकाण्र ब्रह्म (वेद) के वीर्य से सहमने अपना इष्ट अपेक्षित यज्ञ पूरा किया है, उसमें सफल हुए हैं। अधिक दैविक शक्तियाँ हमारे इस लय से (वेद से सर्वस्व सम्पादन करने के रुपवाले तप से) इस विश्व में हमारी रक्षा करें।1। इस मन्त्र के भाव व्यक्त करने में इसी काण्ड का निर्दिष्ट मन्त्र पूर्णतः सहायक हैः

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं निष्यामिर मायया।
ताभ्यामुद्धृत्यवेद मथ कर्माणि कुर्महे।।अथर्व. 19/68/1

मै। अपनी माया (प्रज्ञा) से निरवकाश तथा सावकाश पदार्थ के बिल को अन्तः प्रवेश से

आलोदित करता हूँ। उन दोनों से वेद को प्राप्त कर तब निर्भ्रान्त रुप से अपने कर्मों को पूर्णत देता हूँ। यही मार्ग सभी वेदसाधक लेते हैं।1।

भगवान् यास्क ने अपने निघण्टु में 3.9 में प्रज्ञा के 11 नामों में नवम नाम 'माया' पढा है, निरुक्त में इनकी व्याख्या यभी द्रष्टव्य है। इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा है। वे कार्य निदर्शन में एकवचन की क्रिया 'विष्यामि' पढते हैं तथा कार्य सम्पादन में बहजुवचन 'कुर्महे' का प्रयोग करते है। जो बताता है कि पथिकृत (वैज्ञानिक) एक होता है। उसका कार्य सम्पूर्ण मानव की सम्पण्दा उसके प्रकटीकरण के साथ ही हो जाती है। अतः अनुयायी उसको तुरन्त अपनाकर कर्तव्य पूर्ति में जुट जाते हैं।

स्वयं वेद मन्त्र संकेत रुप में यज्ञ के प्रमुख 4 (चार) ऋत्विजों के कार्यों का निर्देश करता है:

ऋचां त्वः पोष मास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।

ब्रह्मात्वोवदतिजातविद्यां यज्ञस्यमात्रां विभिमीत उत्वः।। (ऋ. 10/72/11)

11 मन्त्रों के इस सूक्त के ऋषि बृहस्पति हैं देवता है ज्ञान। यह यअन्तिम मन्त्र है। महर्षि यास्क इस मन्त्र का सन्दर्भ बताते हुए कहते हैं:

इति ऋत्विक्-कर्मणां विनियोग माचष्टे। (निरुक्त 1/3/8) यह मन्त्र ऋत्विजों के यज्ञ कर्मों का विनियोग बता रहा है। मन्त्र में एक ऋत्विज का नाम कहा गया है ब्रह्मा। अतः यास्क ऋत्विजों का नाम तथ्ज्ञा ऋत्विज नामों का अर्थ बताते हुए मन्त्र की व्याख्या करते हैं :

एक ऋत्विज ऋचाओं को जिह्वाग्र पर धारण करता हुआ उन्हें यज्ञ में यजमान दम्पत्ती तथा अन्य ऋत्विजों को सुनाते हुए देवताओं सका आवाहन करता है। इसका नाम 'होता' है। एक दूसरा ऋत्विज् इन ऋचाओं पर गायत्र नाम के साम का गान करना है, इसका नाम 'उदगाता' है। तीसरा ऋत्विज जो ब्रह्मा कहलाता है आवश्यकता के अनुसार यज्ञविद्या के उस भाग को बोलता है जो उस समय होने वाले अन्य तीनों ऋत्विजों के यज्ञनाशक दोष को दूर कर यज्ञ को पूरा करता है। इसी भाग को 'जातविद्या' कहा गया है। चौथा ऋत्विज यज्ञ सम्पादक सभी क्रियाकलापों का योजक होता है। इसे इसके कर्म के अनुसार 'अध्वर्यु' कहा जाता है। अध्वर यज्ञ को कहते हैं, यह स्वरुपतः ध्वर अर्थात् नाश से रहित होता है अतः अ+ध्वर है। यदि अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग है। अतः अध्वा का देने वाला होने से अध्व+र है। अध्वर का कर्ता होने से, अध्वर को सफलता की प्राप्ति कराने वाला होने से यह अध्वर+युः है। अध्वरयु ही व्यवहार रुप में अध्वर्यु है।

ऋच् (ऋचा) शब्द वेद का भी पर्याय वाचक है। अतः वेदज्ञान रहित के लिए 'अनृच' शब्द का व्यवहार भी चला आ रहा है। होता का सम्बन्ध इस ऋचा से है अतः होता का वेद ऋग्वेद है। ऋचाओं पर जब साम को गीति गायी जाती है तो ऋचा से ऋचा न रहकर साम हो जाती है। ऐसी

ऋचाओं सका वेद सामवेद है। गायक का नाम उद्गाता होने से यही उद्गातृ-वेद है। ऋचाएँ जब अध्वर्यु के कार्य कलाप के लिए संगृहीत हो संहिताबद्ध हो जाती है तो यजुर्वेद कही जाती हैं। इसी भाँति जो ऋचाएँ ब्रह्मा के कार्य की है। वे संगृहीत हो जाती हैं तो ब्रह्मवेद अथवा अथर्ववेद कहलाती हैं। यही वेद विभक्ति है। विभक्ति, विभाग विभाजन समानार्थक हैं। वेद का ऐसा विभ्साजन सर्वप्रथम लेखबद्ध रुप में ब्रह्माजी द्वारा किया गया। वेद प्रारम्भ से ही चार हैं, तीन नहीं थे। यह इस प्रकरण से स्पष्ट समझ लेना चाहिये।

यज्ञ का उद्भव, यज्ञ से सृष्टि का निर्माण और विज्ञान वेद कहता हैः

यज्ञो बभूव स आबभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः
स देवाना मधि पति र्बभूव सोऽस्मासुद्रविण मादधातु।। (अथर्ववेद, 7.8.2)

यज्ञ का जन्म हुआ, वह चतुर्दिक् फैला, वह प्रभव सम्पण्न हुआ तथा बढ़ने लगा। वह देवों का अधिपति बना। यज्ञ हमारे में बल का आधान करे। (7.8.2) इस सूक्त का ऋषि अथर्वा है जो यज्ञों का शाश्व ब्रह्मा है। देवता आत्मा है। बल शब्द का अभिप्राय ब्रह्मवर्च अथवा ब्रह्मतेज से है।

यज्ञ का जन्मदाता वही पराशक्ति ब्रह्म है। वेद कहता हैः

रोहितो यज्ञस्यजनिता मुखं च (अथर्व 13/1/13) रोहित यज्ञ का जन्मदाता है तथा मुख भी है। 13। भगवान् कृष्ण इसी भाव को गीता में ''एवं वबहुविधा यज्ञा विवता ब्रह्मणो मुखे'' (4.32) रुप से व्यक्त कर रहे हैं। इससे पूर्व 3/9-13 पद्यों में इस सूक्त की व्याख्या सी प्रस्तुत कर रहे हैं। वस्तुतः ब्रह्म ने जिसे यहाँ रोहित कहा गया है। यज्ञ को विश्वकर्मा (सृष्टिसर्जक ब्रह्मा) के लिए जन्म दिया हैः

रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे। (अथर्व 13.1.14) इस यज्ञ से प्रजापति ने तैंतीस लोकों का निर्माण तो किया ही। इस सृष्टि के प्रज्ञान (अनुभवात्मक उच्च विज्ञान) के लिए भी यज्ञ को बनाया हैः

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयास्त्रिंशतं लोकान् निरमिभींत प्रजापति। तेषां प्रज्ञानाय यज्ञ मसृजत। (अथर्व 13.3.52-53)

इसी तथ्य को निम्न निर्दिष्ट मन्त्र और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है। इसके भी ऋषि ब्रह्मा तथा देवता रोहित हैः

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किञ्चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम्।। (अथर्व 13.1.55)

प्रथम उद्भूत क्ष यज्ञ सम्पूर्ण भविष्य हो गया। (इसे ही यह अग्रवर्ती वाक्य स्पष्ट कर रहा है

कि) उस यज्ञ से यह सब उत्पण्न हुआ जो रोहित ऋषिसे परिपूर्ण भरा प्रकाशित हो रहा है। (55) ऋषि प्राण का पर्यायवाचक है। इसके अनेक भेदों में एक नाम रोहित है। सूर्य भी इस प्राण का सूर्य की चमक उसी प्राण की देन है। संक्षेप में यज्ञ का सत्यस्वरूप जानने के लिए अथर्ववेदीय उच्छिष्ट सूक्त (11.7) के 6 से 12 तक के सात मन्त्रों को देखा जा सकता है जहाँ अनेक यज्ञों के नाम, यज्ञावयवनाम है तथा कहा गया है कि-

(क) उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गाजि अन्तर्गभ इविमातरि।6।

उच्छिष्ट में यज्ञों के अङ्ग इसी भाँति हैं जैसे माता के गर्भाशय में जातक के अङ्ग।

(ख) उच्छिष्टे यज्ञस्याण्नि विद्यया।10।

यज्ञ के सभी अणु उच्छिष्ट में हैं ब्रह्मविद्या के साथ जिससे वे स्वरुप निर्धारण करने वाले हैं।

(ग) उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः।11।

अमृतमयब्रह्म तथा ब्रह्म के शब्दरुप अभज्ञ वेद में जितने भी यज्ञ हैं वे सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुअए हैं।

यह उच्छिष्टशब्द परासत्ता के उस रुप का विशेष रुप से प्रतिपादन करता है जो एक एक में अपसनी आहुति देकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यास होकर भी उसके पश्चात् भी इससे वाहिर है यही 'उत्+शिष्ट' ऊर्ध्व में बाकी है जो बताता है कि विश्व में प्रतिपल और महा प्रलय में होने वाले नाश से इस अन्तर्यामी सत्ता के स्वरुप में किसी भी प्रक्रिया का कोई प्रभाव नहीं होता है। यह सदैव अव्यय और अविनाशी है।

महासत्ता 'परब्रह्म'

इस महासत्ता के विषय में वेद की घोषणा है कि वही सब कुछ है, उसके बाहर कुछ भी नहीं हैः

एक एवाग्निर्बहुधासमिद्ध एकः सूर्यो विश्व मनु प्रभूतः।
एकैवोषा सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूवसर्वम्।। ऋग् 8/58/2।।

एक ही अग्नि भूः भुवः स्वर् आदि लोकों में अग्नि,वायु और सूर्य आदि रुपों में नाना प्रकार से प्रज्वलित है। यही अग्नि प्राणियों में जठराग्नि, कामाग्नि, क्रोधाग्नि, वैराग्नि आदि रुपों में धधक रही है। एक ही सूर्य अपने सौरमण्डल में विविध रुपणें में आसमान है। एक ही उषा अन्धकार को दूर करती हुई आभा फैलाती है, ठीक इन्हीं की भाँति वह महासत्ता ब्रह्म है जो एकम् = एक ही अद्वितीय, वै=निश्चयतः, ख्इदं सर्वम्=विश्व में विद्यमान प्रत्यक्ष, परोक्ष, जड, चेतन, स्थूल, सूच्म, नित्य अनित्य, जैसे असंख्य रुपों में होते हुए सभ्सी रुपों में वैभव रखता है। सब कुछ उसी की विभूति है।

यजुर्वेद वाजसनेय माध्यन्दिन संहिता (32/7) तथा काण्व संहिता (35/27) में कहा गया है:

वेनस्तत्पश्यत् निहितं गुहासद्, यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
यस्मिन्निंदसंच विचैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।।

गुहा में निहित उस सत् (महासत्ता) का वेन ने साक्षात् कार किया है जिसमें यह सारा विश्व इस भाँति एकत्र हो जाता है जैसे एक घोंसले में पक्षी। सारा विश्व इसमें एक रुप हो जाता है उसी में विविध रुप भी। वह व्यापक प्रभु समस्त प्रजाओं में ओतप्रोत है। अथर्व (2.9.1) में यह पाठ 'यत्रविश्वं भवत्येकरुपम्'। जहाँ यह संसार एकरुप हो जाता है।

मनुष्यः महासत्ता का उत्तराधिकारी

मनुष्य और ईश्वर की एकात्मता का उद्घोष करनेन वाले वचनों के वेदमन्त्र वेदों में सुप्रचुर मात्रा में है। निदर्शनरुप में कतिपय वचन ही यहाँ दिये जा रहे हैं:

अयं में हस्ते भगवानयं में भगवत्तरः।
अयं समें विश्वमेषजोयं शिवाभिमर्शनः।।ऋग् 8.60.12।।

महर्षि अगस्त्य की बहिन के पुत्र विप्रबन्धु, श्रुतबन्धु और सुबन्ध नाम के गौपायन ऋषियों का यह सूक्त है। मन्त्र के देवता 'हस्त'(हाथ) है। स्वाध्याय तप की परासाधना से पराशक्ति का साक्षात्कार किये हुए ऋषि 'हस्त-स्तुति' में कहते हैं - यह मेरा हाथ भगवान है,(न केवल भगवान ही अपितु) भगवत्तर (भगवान् से बढ़कर) है। यह समस्त विश्व रोगों का भेषज (औषध) है। इसका स्पर्श ही महामङ्गलमय है।12। लोक प्रसिद्ध आमाणक 'अपना हाथ जगन्नाथ्ज्ञ' इसी भगवत्कृपाशक्ति का जन जन में 'प्राण सञ्चर करने वाला यन्त्र है।

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्'। (अथर्व. 8.1.6)

हे पुरुष! उद्यान (उत्रुत्थान = ऊपर उठना, अर्थात् सर्वविध उभ्यदय) तेरी नियति है, अवयान (निम्न गति अर्थात् पतन) तेरा स्वरुप नहीं है। मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा के माध्यम से विश्वसत्ता शक्ति के द्वारा दिया गया आश्वासन नहीं है अपितु वरदान है।

उद्यान का अर्थ आशय अर्थात् बगीचा लोक प्रसिद्ध है। ऊपर उठना यौगिक (प्रकृति प्रत्ययजन्य) अर्थ है। लोक में इसका भी व्यवहार चलता रहा है। शुक्ल यजुर्वेद के साक्षात्कर्ता (ऋषि) ऋयाज्ञवल्क्य के प्रवचन का लोक प्रसार करने वाले शिष्य कण्व तथा यज्ञयनिन की दो संहिताएँ काण्वसंहिता, माध्यन्दित संहिता, साथ ही दोनों के दो ब्राह्मण हैं, दोनों का नाम शतपथ हैं। इस काण्व शतपथ का भाग 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है। यही पठन पाठन में सर्वाधिक है। इसमें याज्ञवल्क्य के लिए कहा गया है कि - मैत्रेयीति होवा च याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्यात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं

करवाणीति। 2.4.1। मैत्रेयि! कहकर पुकारते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मै। इस गृहस्य स्थान से ऊपर उठकर जाने वाला हूँ, लो आओ तुम्हारा इस कात्यायनी के साथ अन्त (सम्पत्ति विभाजन का निर्णय) कर दूं। ठीक इसी भाँति 'उद्यान' है उत्तरोत्तर अभ्युदय की स्थिति पर बढने जाना।

शृण्वनुविश्वेअमृतस्य पुत्रा आयेधामानि दिव्यानि तस्युः। (यजुर्वेद 11.5)

भिन्न भिन्न दिव्य स्थानों में आस्थित हे अमृत पुत्रों सुनो।

यहॉ। मनुष्य को 'अमृत-पुत्र' बताया गया है। इसका अभिप्राय है मनुष्य जन्म से ही अमृत-सम्पदा का अधिकारी है। यदि वह स्वयं ही अपने दोषों से उस स्वत्व को न खो देवे।

मनुष्य देह के कण कण में ब्रह्म

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।

तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।। (अथर्व. 10.2.31)

यह 33 मन्त्रों का सूक्त अथर्ववेदीय 10.2 स्थल का है। इसके ऋषि नारायण तथा देवता पुरुष है। इसमें मनुष्य की देह को देवों की नगरी अयोध्या कहा गया है। इसके 8 (आठ) चक्र तथा नौ द्वार हैं। इसमें ज्योतिर्मण्डल से घिरा हिरण्यमय कोष है जो द्युलोक जैसा ही है। 31। इसी सूक्त का एक अन्य मन्त्र हैः

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसासं परीवृताम्।

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्।।33।।

उत्तम दीप्ति से परिपूर्ण, सब की आकर्षक, यशः (सर्वत्र व्याप्त होने की शक्ति से) मदपूर्ण, हिरण्यमयी इस पुरी में ब्रह्म का डेरा है।

इसे समझने में कहीं कोई झिझक हो तो निम्नलिखित ये दो मन्त्र उसे पूर्णतया दूर कर देने वाले हैंः

ब्रह्मणाभूमिर्विहिता ब्रह्मयौरुत्तराहिता।

ऊर्ध्वे नु सृष्टास्तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वादिशः पुरुष आबभूव।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।।28।।

ब्रह्माण्ड को ब्रह्माण्ड इसलिए कहते हैं कि यह ब्रह्म का अण्ड(अण्डा) है। अत्यन्त पुरातन काल में आवरण अर्थ में अडि धातु प्रचलित थी। भगवान् पाणिनि तथा महर्षि यास्क से भी चिरप्राचीन ऋषि काशकृत्स्न ने इस 'अडिआवरणों' (1.170) धातु के साथ आत्मनेपद धातुओं में 'अडिगमने' (1.435) धातु को भी पढ़ा है तदनुसार ब्रह्म का आवरण ब्रह्माण्ड है। वस्तुतः यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म का आच्छादन करने वाला है अतः ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड में अन्तर्निहित ब्रह्मगति, ज्ञान तथा प्राप्ति करनेन कराने वाला

होने से 'अण्डते इति अण्डः है। वही चेतना का विराट पुञ्ज तथा केन्द्र है। अतः ब्रह्माण्ड की ज्ञान क्रियात्मक सभी गतिविधियों का आधार तथा उत्स है। ये दोनों मन्त्र इस आशय को प्रकट करते हैं तथा अन्त में कहते है। कि जो इस पुर को जान लेता है वह पुरुष है क्योंकि इस पुर के कारण से ही वह महासत्ता 'पुरुष' शब्द का व्यवहार प्राप्त किये हुए है।

ईश्वर का पुरुषत्व

जब वह महाशक्ति महासत्ता, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, आदि सहस्रों नाम धारण किये हुए है तथा उन नामों से उसे पुकारते हैं, उन नामों का जप करते हैं तथापि उन सभी नामों में किसी भी नाम से उस सत्ता की स्पष्ट कल्पना कर उसकी अनुभूति नहीं कर सकते हैं। अनुभूति बिना ज्ञान व्यर्थ है। यह 'पुरुष' शब्द एक मात्र ऐसा है जो सामान्य शब्दार्थ ज्ञान मात्र से उसकी सहज अनुभूति करा देता है।

आज यह संसार न होता, इसकी नानारुपता, इसकी विलक्षणता, इसकी नियमबद्धता, इससी नाना प्रकार की अच्छाइयाँ, बुराइयाँ, इसकी शासनानुतर्तिता, हमारे सामने न होती तो, इसे लेकर उठने वाला नाना प्रकार जिज्ञासाएँ हमारे मन मस्तिष्क में कैसे सउठती। इन जिज्ञासाओं के समाधान के लिए इस जगत् की ही सभी प्रकार की छानबीन में हमारे पथिकृत् पूर्वज ऋषि लगे। उनकी सहस्रों वर्षों की स्वाध्याय तपस्या से जैसे जैसे उत्तर मिलते गये उन उत्तर के कोशों के भण्डार में सर्वाधिक समाधान देने वाला जो दर्शन मिला उसका परिणाम यह शब्द 'पुरुष' है। शक्ति और शक्तिमान, सृष्टि और सृष्टिकर्ता के युगल को एकात्मता के अक्षुण्ण रुप में प्रकट करने वाला यही शब्द है जिसमें पुर और उसका आवासी अधिष्ठाता ब्रह्म नित्यत्र सनातन एकीभूत स्वरुप से न केवल ज्ञात ही होते हैं अपितु प्रतिपल अनुभूति के विषय भी बनते जाते हैं।

एक बार पुनः ऋग्वेदीय पुरुष-सूक्त (10.90) की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। पुरुषः सवेदं सर्वम् (2)। पुरुष ही यह सब कुछ है, इसका निष्कर्ष निकलता है कि पुरुष से भिन्न प्रकृति, माया आदि नाम जैसा कोई अन्य अस्तित्व नहीं है। यह पुरुष ही पुर है और इसके कण कण में व्याप्त परमात्मा भी यही है। (2) पादोऽस्य यभूतानि।3। सम्पूर्ण भूत-विश्व का चरा चररुप यह सारा विस्तार पुरुष का एक पाद है। परमात्मा के कुल चार पाद है। प्रथम पाद क्षर है जिसका यह सम्पूर्ण प्रपञ्च है। द्वितीय पाद अक्षर है। यह विश्व का अपादान है। इससे मानों क्षर निरन्तर झर रहा है। तीसरा पाद अव्यय है। यह अक्षर का आधार मात्र है इसमें किसी भी प्रकार का कोई व्यय नहीं है। यह अव्यय पदात्पर में प्रतिष्ठित है। अक्षर के किसी भी क्रियाकलाप से इससे श्रेष्ठभाव वाला अव्यय पाद भी प्रभावित नहीं होता है तो जो पदों से भी परे है उस परात्वर पाद पर तो किसी का कोई प्रभाव

संभव ही नहीं है। इस भाव को इसी सूक्त का पाद 'त्रिपादस्यामृतं दिवि' (3/4) प्रकट करता है। पुरुरूष का अमृतत्रिपाद्रुप (अक्षर,अव्यय और परात्पर) द्युलोक में है।

पुरुष यज्ञ है, यज्ञ ही पुरुष की आराधना का मार्ग है। देवों ने इस यज्ञ पुरुष की यज्ञ-प्रक्रिया से पूजा की, उसका परिणाम है कि देववृन्द ही पुरुष के अङ्ग बना। उस समय का क्रिया व्यूह ही प्रथम धर्मों के रुप में प्रतिष्ठित हुआ। इस भाव को बताने वाला ऋचार्ध हैः यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।16। यज्ञ से यज्ञ पुरुष का यजन देवों ने किया, ये ही प्रथम धर्म थे। प्रजनन यज्ञ में देखते है। कि आधिदैविक त्रिलोकी के ये चन्द्रमा सूर्य आदि देवगण मनुष्य के जन्म में मातृगर्भ में शिशु के मन, नेत्र आदि अंग बनते हैं। देवानिकाय से बना यह गर्भस्थ शिशु यथा समय जन्म लेता है। मन्त्र है-

चन्द्रमामनसोजातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाण्द् वायुरजायत।। 13।।
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो समवर्तत।
पद्भ्यां यभूमि र्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकानकल्पयन्।।14।।

जगद्बीज पुरुष के मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य उत्पण्न हुआ। मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण जन्मे।13। नाभि से अन्तरिक्ष बना, शिर से द्यौ का जन्म हुआ। पाद-,य से भूमि, श्रोत्र (कर्णाश्रित व्यवण शक्ति) से दिशाएँ, इस प्रकार इन देवों ने लोकों का निर्माण किया। 14। यही ईश्वर का पुरुषत्व है जिसने अपने पुर इन लोकों का निर्माण किया।

मनुष्य का पुरुषत्व

पुरुष से आधिदैविक लोकों की उत्प्ति हुई। इन आधिदैविक पुरुषायव चन्द्रमा सूर्य आदि से पार्थिव अर्थात् भूमि के इस पुरुष की उत्पत्ति हुई। यही दोनों पुरुषों की एकात्मता है। वेद के अनेक मन्त्रों इन दोनों की एकता स्पष्ट शब्दों में कही गयी है। यथा-

पूषन्नेकर्षे सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि,
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्ति।।काण्वसंहिता 40/16।।

सूर्य की स्तुति करते हुए ऋषि कह रहा है- पूषन् एकर्षे सूर्य और प्राजापत्य। (हे पूषा, हे एकर्षि, हे सूर्य, हे प्राजापत्य) तुम विविध व्यूहों में बंटी इन रष्मियों को संहृत (एक त्ररुपमय) करो, इससे मैं तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ कल्याणमयरुप को देखूँ। (देखने की प्रार्थना है क्योंकि देखना मेरा अधिकार

है, स्मरण करो) आप में प्राणनिष्ठ जो वह पुरुष है, वह यह मैं हूँ। प्रबल ब्रह्मचर्य साधना से जब ब्रह्मभाव की प्राप्ति की अनुभूति हो जाती है तभी वह ऐसे भाव प्रकट कर सकता है, देखिये-

सूर्यो में चक्षुर्वातः प्राणः अन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतोनामायमयमस्ति, स आत्मानं निदधे धावा पृथिवीभ्यां गोपाथाय॥ (अथर्व 5.9.7)

सूर्य मेरा चक्षु है, वायुप्राण, अन्तरिक्ष आत्मा, पृथिवी शरीर है। निश्चित ही मैं अस्तृत (अनाच्छादित, अनिरुद्य तथा अविकीर्ण) हूँ। मैंने धावा पृथिवी (आधिदैविक त्रिलोकी) की रक्षा के लिए स्वयं को पार्थिव पुरुष के रुप में रखा है।7। पृथ्वी हमारा भौम पुरुषों का शरीर है। अथवा धावापृथिवी रुप आधिदैविक त्रिलोकी की रक्षा के लिए स्वयं को पार्थिव पुरुषों में रुप में रखने वाला जगद्बीज पुरुष है। दोनों यहाँ किस रुप में एक है, स्पष्टतः मन्त्र बता रहा है। यही हम विश्व मानवों का पुरुषसाम्य है।

मनुष्य का धर्मत्व

पुरुष सूक्त के 'लानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (10.90.16) अंश में संकेतित असंख्य धर्मों में एक धर्म, जिसे प्रथमलिप्रथम धर्म कहना पूर्ण उचित है, मनुष्य ही है। मनुष्य के धर्मत्व को जानने के लिये संस्कृति को जानना अत्यावश्यक है।

संस्कृति शब्छ सम्+कृ+ति इस धातु से लगेक्तिन् प्रत्यय का अंश है जो शब्द का रुप देता है। इनसे बना शब्द 'सङ्कृति' है। यह व्याकरण की औत्सर्गिक प्रक्रिया अर्थात् सर्वसाधारण नियम की व्यापक प्रक्रिया है। दूसरी अपवाद प्रक्रिया है जो कुछेक विशिष्ट परिस्थिति में ही लागू होती है। संस्कृति इस विशेष प्रक्रिया से बना शब्द है। वह अपवाद प्रक्रिया यह है कि सम् और कृ के योग से बने शब्द का अर्थ किसी प्रशंसनीय विशेषता को बताने के अभिप्राय वाला है तो यहाँ स् लाने के लिए विशेष प्रत्यय सुट् को लाना पड़ा जो घटक अवयवों में अतिरिक्त रुप से आया है। अब सम् स् कृति से संस्कृति बनता है। स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के अपने अपने पृथक् अर्थ हैं।

शुद्ध दूध पाचन क्रिया के लिए अनुकूल न पड़ने की स्थिज्ञति में सर्वथा छोटे शिशु के, अस्वस्थ अथवा अतिशय दुर्बल बड़े के भी दूध में समुचित मात्रा तक पानी मिलाना 'संकर' है। आर्थिक लाभ के लिए ग्राहकों को बेचे जाने वाले दूध में पानी मिलाना भी संकर है किन्तु यह निन्द्य है। इस दृष्टि से संकर ऐसी दोषपूर्ण मिलावट के लिए रुढ हो गया। यहाँ 'एकीभाव' अर्थ ठीक नहीं है जो सम् का वास्तविक अर्थ है। इसके विपरीत 'संस्कृति' से गृहीत एकीभाव सदैव प्रशंसनीय मेल है। यह एकीभाव की शाश्वतता का रक्षक है। जब मनुष्य को संस्कृति कहते है। तो हमें इस एकीभाव का मर्म और इसकी सुस्थिति का यथार्थ भाव पकड़ना होता है। वही यहाँ विचार है।

देह, मन, बुद्धि और पुरुष (आत्मा) नाम के चार पर्व इस मनुष्य प्राणी के घटक हैं। प्रथम तीन को पुर तथा अन्तिम पर्व को पुरुष कहते हैं। पुर स्थूल भाग है जो पञ्चमहाभूतों से घटित है, इससे परवर्ती दो भाग मन और बुद्धि अभूत है। इन भूताभूत में सामञ्जस्य पूर्ण एकीभाव पुरधर्म है। इस धर्म का पालन करने पर मनुष्य स्वस्थ, नीराग, दीर्घायु और अभ्युदय के सभी कार्य करने में पूर्ण समर्थ रहता है। इन तीनों की प्रतिष्ठा पुरुष है। अतः इनका प्रत्येक कार्य पुरुष के लिए पूर्ण समर्थित होना चाहिये। इस प्रकार जड़, चेतन का यह एकीभाव मनुष्य के चारों पुरुषार्थों - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का पूर्णतः साधक होना चाहिये, यही मनुष्य की सिद्धार्थता है। इससे च्युत मनुष्य अनात्मभावों का दास हो जाता है जो अधोगति है। संस्कृति की दृढ़ता ही धर्म का प्रथम कार्य धृति है, धृतिमान् धर्मधारक है, धर्मधारक ही सिद्ध है, यही संस्कृति का फल है।

इन सैंकड़ों धर्मों के धारण के लिए तनु (देह) का धर्मशास्त्र आयुर्वेद है। मन के स्वरुप की रक्षावाला धर्मशास्त्र योगशास्त्र है। योग के दो प्रमुख स्तम्भ यम और नियम हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोर वृत्तिसे मुक्ति) ब्रह्मचर्य (पूर्ण विश्व के कण कण में ब्रह्म की अनुभूति कर उस ब्रह्म के लिए सम्पूर्ण क्रिया कलाप करना) तथा अपरिग्रह (संग्रह की वृत्ति से सर्वथा दूर रहना) नाम के ये पाँच यम सम्पूर्ण विश्व के लिए समान रुप से धारण करने योग्य सनातन महाव्रत हैं। नियम में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान आते हैं। विश्व के प्रति सर्वत्र पवित्रता का भाव रखना रखना, अर्थ के विषय में एक पैसा भी अधर्म अन्याय से न लेना सब शौचों में श्रेष्ठ है। बुद्धि शौच के लिए स्वाध्याय (सदैव विभिन्न शास्त्रों को नियमित अध्ययन करते हुए विवेक शक्ति को बढ़ाना तथा उस पर दृढ़ रहना एक मात्र मार्ग है। तप अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिए मन, वाणी तथा
कर्म द्वारा पूर्ण समर्पित कर देना है। इससे भिन्न कार्य जो तप के नाम पर किये जाते हैं वे अज्ञान और दम्भ है। ईश्वर प्रणिधान का सार है अपने किये गये सभी कर्मों को तथा कर्मफलों को भगवान् को अर्पित करते हुए उन्हीं की स्थार्य/शरणागति में चले जाना। ये नियम वैयक्तिक हैं। सार्वभौम औश्र वैयक्तिक आचरणों में भी एकात्म्ता संस्कृति है। इस संस्कृति की रक्षा के लिए ही संस्कार हैं। संस्कार जब तक संस्कृति की एकात्मता को पुष्ट करते रहेंगे तभी तक संस्कार हैं। यदि ऐसा नहीं है तो वह एक निष्प्राण अभिनय मात्र है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य का पर्यायवाचक संस्कृति है। संस्कृति धर्म है अतः मनुष्य धर्म है। धर्मो मनुष्याः। पाठक ब्राह्मण 37।13। तथा धर्मो मनुष्यः गोपथब्राह. 2.2.13। स्पष्टरुप में बता रहे हैं धर्म मनुष्य है। इसी को यजुर्वेद कह रहा है कि - सा प्रथमा संस्कृति र्विश्ववारा।7.14। वह प्रथम संस्कृति है जो सम्पूर्ण विश्व द्वारा वर ली गई है।

धर्मः, ज्येष्ठ, सर्वाश्रय, सनातन

वेद धर्म को ज्येष्ठ कहता है। ज्येष्ठ का अर्थ है सब में बड़ा, जिसका अतिक्रमण न किया जा सके।

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।

तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदुनात्येति कश्चन।अथर्व. 10।8।16।

ऋषि कुत्स कहते हैं कि जिस अटल विधान से सूर्य (सौर जगत् का ब्रह्मा, प्रजापति) उदित होता है उसी अटल विधान से वह अस्त होता है। ऋत नाम वाले उस विधान को मैं ज्येष्ठ मानता हूँ क्योंकि कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है।16।

इसी भाव को कठ ऋषि ने निम्म्लिखित रुप में प्रकट किया है। इस संहिता का उपनिषत् कठोपनिषत् है। यहाँ ऋषि यम ने अपने उपदेश काल में नचिकेता को कहा है-

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।

तं देवाः सर्वेऽर्पिता स्तदु नात्येति कश्चन।।4/19।।

सूर्य के उदय और अस्त के इस अनुवर्तन (धर्मरुप व्यवहार) को सभी देव एण्कात्मभाव से अर्पित हैं। वे इस सत्य को जानते हैं कि इसका उल्लंघन सम्भव ही नहीं है। इस (उल्लंघन) की चाह अथवा चेष्टा मृत्यु को सीधा निमन्त्रण ही है।

भगवान् याज्ञवल्क्य के शिष्य ऋषि कण्व के बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप में धर्म शब्द का प्रयोग कर बता दिया है कि वेद का ज्येष्ठ शब्द धर्म का ही प्रतिपादन कर रहा है-

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।

तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उश्वः।।1.5.3।।

सूर्य के इस अविचल चक्र को देवासें ने धर्म मानकर ही जीवन में लिया है। यही कारण है कि उन्होंने अपने आपको इसे समर्पित कर दिया है। उनका स्पष्ट बोध है कि यह धर्म कालजयी है, सनातन है, जैसा आज है वैसा ही कल रहेगा।

जिस रुप में आज धर्म को देखा जा रहा है और कार्यकलाप में लिया जा रहा है, चह वैदिक धर्म का स्वरुप कभी भूलकर भी नहीं रहा है। हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय स्मृति कहलाता है जो श्रुति की व्याख्या है। इस आर्ष ग्रन्थ समूह में भी आज की पूजा उपासना को स्थान नहीं है। रामायण, महाभारत में भी सर्वत्र वेद की व्याख्या के रुप में धर्म का अतिशय उदार रुप ही बताया गया है, सङ्कीर्णता, क्षुद्रता आदि की छाया तक भी नहीं है। हमारे स्वाध्याय के अभाव में ये दोष पनपे हैं। भारतवर्ष के स्वरूप के ये अनुकूल नहीं है। भगवान् नारायण के पुरुष सूक्त के मन्त्रों के अनुसार प्रारम्भ किये गये

इस महान् विषय को महानारायणीय उपनिषत् के वाक्यों से पूर्णत पद देखने को कतिपय उपदेश वचन जीवन सूत्र के रुप में प्रस्तुत कर रहा हूँः

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
धर्मे सर्वम् प्रतिष्ठितम्,
तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।।2 ।।

धर्म सम्पूर्ण विश्व (चराचर) की प्रतिष्ठा है, इस विश्व का आद्यन्त स्वरुप पूरा का पूरा धर्म में ही प्रतिष्ठित है जो धर्म के बाहिर जा ही नहीं सकता, अतः सभी सुति स्मृतियाँ, उनके ऋषि धर्म को परम, ज्येष्ठ, सर्वाश्रय, सर्वाधार करते हैं। भगवान् भारतीयों को परम-श्रद्धा और शक्ति दे कि विश्व धर्म के इस स्वरूप का साक्षात् करा सकें। यही हमारी प्रतिज्ञा है-

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा। यजु. 9/23

हम राष्ट्र में प्रथमपंक्ति के पुरोधा बने रहे सतत जागरुक रूप में। इतिशम्।

पीठाचार्य, वेदपुराणस्मृति शोधपीठ
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर